International Journal of Humanities and Social Science Research
www.socialsciencejournal.in
ISSN: 2455-2070
Received: 02-01-2022, Accepted: 17-01-2022, Published: 02-02-2022
Volume 8, Issue 1, 2022, Page No. 75-79

योगसूत्र में ईश्वर की अवधारणा

अजित कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, लेडी श्रीराम कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

सारांश
अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश– ये पाँच क्लेश हैं। पुण्यपुण्य (धर्माधर्म) कर्म हैं। कर्मों के फल को विपाक कहते हैं। उन कर्मों के फलों के अनुरूप बनी हुई वासनायें आशय (संस्कार) हैं। ये सभी मन (बुद्धि) में रहते हुए भी पुरुष (जीवात्मा) में वर्तमान कहे जाते हैं और पुरुष बुद्धि में स्थित उन अविद्यादि से उत्पन्न फलों का भोक्ता कहा जाता है। जैसे– युद्ध में जय या पराजय वस्तुतः राजा के सैनिकों की होती है, परन्तु जय या पराजय का व्यवहार राजा में होता है अर्थात् राजा की कही जाती है। जो सदा ही इन क्लेशकर्मादि तथा इनके भोग से अछूता है, वही पुरुष विशेष ईश्वर है। यद्यपि कैवल्य (मुक्ति) को प्राप्त करने वाले बहुत से केवली होते हैं, उन्होंने तीन बन्धनों (प्राकृतिक, वैकारिक तथा दक्षिणा) को काटकर कैवल्य प्राप्त किया, परन्तु ईश्वर का इन बन्धनों से न कभी सम्बन्ध था और न कभी होगा। जैसे– मुक्त हुए पुरुष की मुक्ति से पूर्वकाल में बन्धन की स्थिति रहती है, ऐसी बन्धन की स्थिति ईश्वर की नहीं होती। अथवा जैसे प्रकृतिलय योगियों की समाधि भंग होने के कारण बाद में शरीरादि के बन्धन की स्थिति सम्भव है, वैसी ईश्वर की नहीं। वह तो सदैव मुक्त है और सदा ही सर्वातिशायी ऐश्वर्यवाला है।

मूल शब्दः ईश्वर–प्रणिधान, सृष्टि–प्रक्रिया, बद्ध एवं मुक्त, सर्वज्ञ, आदिगुरु विज्ञानभिक्षु, वाचस्पति मिश्र, व्यास

प्रस्तावना
योग–दर्शन में ईश्वर को एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है क्योंकि यही एक ऐसा साधन है जिसको उत्तम, मध्यम एवं अधम–कोटि के साधकों हेतु किसी न किसी रूप में वर्णित किया गया है। समाधिपाद में उत्तम–कोटि के साधकों हेतु भावना रूप ईश्वर–प्रणिधान का उपदेश दिया गया है[1] और साधन–पाद के प्रारम्भ में क्रियायोग के अन्तर्गत जिस ईश्वर–प्रणिधान का वर्णन किया गया है,[2] वह मध्यम–कोटि के साधकों हेतु है और उसी पाद में अष्टांगयोग का वर्णन करते हुए अधम–कोटि के साधकों के हेतु नियमान्तर्गत भी ईश्वर–प्रणिधान का वर्णन किया गया है।[3]
विज्ञानभिक्षु ने स्पष्टतः परमेश्वरपरक योग को श्रेष्ठ माना है।[4] दास गुप्ता भी अन्य ध्येय पदार्थों की तुलना में इसे उत्तम मानते हैं, क्योंकि ईश्वर के प्रसन्न होने पर समस्त बाधाएं दूर हो जाती हैं तथा उसकी सफलता का मार्ग सुगम हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप साधक शीघ्र समाधि–लाभ कर सकता है। जोशी भक्तियोग का वर्णन करते समय ईश्वर–प्रणिधान की व्यावहारिक महत्ता पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि साधक अपने शुभ एवं अशुभ समस्त कर्मों का परमतत्त्व में अर्पण कर सुरक्षा का अनुभव करता है तथा बिना किसी तनाव एवं दुःख के शान्तिपूर्ण तरीके से अपने कार्यों में लगा रहता है। योग एक व्यावहारिक दर्शन है और साधक को विभिन्न मार्गों का उपदेश देकर उन्हें कैवल्य लाभ की ओर अग्रसर करता है और उस दृष्टि से ईश्वर की महत्त्वपूर्ण भूमिका का अनुमान तीनों ही प्रकार के साधकों हेतु किसी न किसी रूप में उसका वर्णन किए जाने के द्वारा लगाया जा सकता है। जहाँ तक सृष्टि की प्रक्रिया में ईश्वर की भूमिका का प्रश्न है उस विषय में पतंजलि एवं व्यास दोनों ही मौन है, इसका कारण राधाकृष्णन् के मत में यह है कि योग–दर्शन सम्भवतः क्रियात्मक पक्ष का अधिक समर्थक हैं। यद्यपि सूत्रकार एवं भाष्यकार ने सृष्टि–प्रक्रिया में ईश्वर की आवश्यकता का वर्णन नहीं किया है तथापि परवर्ती व्याख्याकारों वाचस्पति मिश्र एवं विज्ञानभिक्षु आदि ने सृष्टि के प्रारम्भ में इसे निमित्त कारण के रूप में स्वीकार किया है जिसका विस्तृत वर्णन आगे किया जायेगा। दासगुप्ता ने सांख्य द्वारा प्रकृति के स्वयं ही क्षुब्ध हो कर सृष्टि के प्रारम्भ के विषय में विभिन्न शंकाओं को उठाते हुए किसी ऐसे तत्त्व के होने की संभावना को व्यक्त की है जो कि सुचारु रूप से यह कार्य सोच समझ के साथ कर सके, इसके लिए उपयुक्त ईश्वर ही हो सकता है यह उनका अभिमत है। सृष्टि–प्रक्रिया में ईश्वर का उल्लेख न किए जाने का कारण देते हुए राधाकृष्णन् लिखते हैं क्योंकि योग–दर्शन का क्रियात्मक प्रयोजन एक शरीरधारी ईश्वर से पूर्ण हो जाता है इसी कारण पतंजलि ने ईश्वरवाद की स्थापना नहीं की।[5] इसके द्वारा यह नहीं समझना चाहिए कि राधाकृष्णन् योग–दर्शन में ईश्वर की आवश्यकता एवं परवर्ती काल में उसे जो स्थान दिया गया है उसकी महत्ता को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि वह लिखते हैं कि परवर्ती योग में ईश्वर को जो महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है, वह मानव–हृदय की सार्वभौम आवश्यकताओं के अनुभव का ही परिणाम है, पवित्र मनुष्य के जीवन में ईश्वर की यथार्थता देखी जाती है।[6] पतंजलि के द्वारा ईश्वर को जो स्थान प्रदान नहीं किया गया, वह वाचस्पति मिश्र एवं विज्ञानभिक्षु ने उन्हें दिया है, इसका कारण इलाइड यह देते हैं कि जिस समय ये दोनों व्याख्याकार हुए तब समस्त भारत में रहस्यवाद एवं भक्तिवाद छाया हुआ था। यह उसी का प्रभाव कहा जा सकता है। वह तो इसे रहस्यवाद की सार्वभौम विजय मानते हैं जिसके कारण यह परवर्ती योग पूववर्ती से काफी भिन्न हो गया है।
स्वामी अभेदानन्द राज–योग (पातंजल–योग दर्शन) में ईश्वर को सृष्टिकर्ता के रूप में माने जाने के विरोधी हैं, उनका मत है कि यदि हम ईश्वर को सृष्टिकर्ता के रूप में स्वीकार करेंगे तब ईश्वर की इच्छा–विशेष को ही उसके कारण–रूप में

स्वीकार करना होगा, जिसके परिणामस्वरूप योगदर्शन में जो ईश्वर को नित्यतृप्त एवं पूर्णकाम माना गया है यह सिद्धान्त ही बाधित हो जाएगा।

परन्तु स्वामी अभेदानन्द का यह मत पूर्णतः भ्रान्तिमूलक है क्योंकि ईश्वर किसी इच्छा की पूर्ति हेतु सृष्टि में प्रवृत्त नहीं होता। परन्तु वह तो करुणावश जीवों के भोग एवं मोक्ष हेतु ही प्रवृत्त होता है। अतः उसमें किसी प्रकार की कमी की कल्पना करना व्यर्थ है। इस प्रकार ईश्वर की नित्यतृप्तता एवं पूर्णकामता में किसी प्रकार की कमी मानना उचित नहीं है। इसका विस्तारपूर्वक वर्णन इन दोनों व्याख्याकारों ने किया है, जो कि तद्विषयक वर्णन करते हुए दिया जाएगा।[7]

अतः हम देखते हैं कि सूत्र एवं भाष्य में ईश्वर को सृष्टि–प्रक्रिया में स्थान दिये जाने के कारण कुछ आलोचकों ने परवर्ती व्याख्याकारों के दृष्टिकोण को अनुचित बताया है, परन्तु राधाकृष्णन प्रभृति दार्शनिकों ने इसकी प्रशंसा की है। सूत्रकार के अनुसार योग–दर्शन में ईश्वर किस प्रयोजन की सिद्धि के लिए स्वीकृत है तथा व्याख्याकारों ने उसे किस रूप में प्रस्तुत किया है? इसका ही वर्णन कराने का सही प्रयास किया जा रहा है।

जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है कि सूत्रकार ने तीनों प्रकार के साधकों हेतु ही उनके मानसिक धरातल को ध्यान में रखते हुए भिन्न–भिन्न प्रकार के ईश्वर की आराधना कर उसकी कृपादृष्टि प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया है। सर्वप्रथम हमें उत्तम अधिकारियों के लिए विभिन्न साधनों द्वारा समाधि लाभ कराए जाने का उपदेश देते हुए एक ऐसे साधन के रूप में ईश्वर आराधना का उपदेश प्राप्त होता है जिसके द्वारा अन्य साधनों की अपेक्षा शीघ्र समाधि–फल की प्राप्ति हो सकती है[8], इसे उन्होंने ईश्वर प्रणिधान कहा है।[9] यह ईश्वर के वाचक प्रणव[10] का जाप करना तथा उस जाप काल में प्रणव के अभिधेय ईश्वर के विषय में चिन्तन करना है[11], क्योंकि इसमें चिन्तन किया जाता है। अतः यह भावना रूप है। इसके द्वारा समाधि लाभ एवं समाधि के फलस्वरूप होने वाले कैवल्य का लाभ तो होता ही है,साथ ही समाधिकाल में आने वाले समस्त विघ्नों का भी नाश हो जाता है।[12] द्वितीय पाद में जो क्रियायोग एवं नियम के अन्तर्गत ईश्वर–प्रणिधान का वर्णन किया गया है वह इससे भिन्न है, उसमें समस्त शुभ एवं अशुभ कर्मों को परमगुरु ईश्वर में अर्पण करने के लिए कहा गया है।[13]

सूत्रकार एवं भाष्यकार व्यास ने मात्र योग के चरम लक्ष्य तक पहुँचाने में सहायक साधनों के रूप में ही ईश्वर का उल्लेख किया है, परन्तु वाचस्पति मिश्र एवं विज्ञानभिक्षु ने इसके साथ–साथ उसे सृष्टि के निमित्त–कारण के रूप में भी स्वीकार किया है। वाचस्पति मिश्र लिखते हैं कि प्राणी का जो जात्यन्तर परिणाम अर्थात् एक देह को त्यागकर अन्य देह को प्राप्त करना है, उसमें कारण रूप प्रकृत्यापूर के धर्मादि तो मात्र निमित्त ही है, प्रयोजक नहीं, क्योंकि कोई भी कार्य अपने कारण का प्रवर्तक नहीं हो सकता। प्रवर्तक एक स्वतन्त्र व्यक्ति होता है यथा घट बनाते समय मिट्टी, दण्ड, चक्र आदि से स्वतन्त्र कुम्हार। यहाँ पर यह स्वतन्त्र व्यक्ति ईश्वर ही है जो कि जीव के प्रतिबन्धों को दूर कर धर्माधिष्ठान के लिए प्रेरित करता है।[14] ईश्वर द्वारा जगत् की सृष्टि किए जाने का कारण देते हुए वह लिखते हैं यद्यपि यह नित्यतृप्त है, तथापि प्राणियों पर अनुग्रह हेतु वह ऐसा करता है, उसको सुख दुःख से सम्पूर्ण संसार की सृष्टि करने के द्वारा अकारुणिक नहीं माना जा सकता क्योंकि जिन प्राणियों ने भोग एवं मोक्ष रूप चित्त के अधिकार को समाप्त कर कैवल्य लाभ नहीं कर लिया है, उनके पुण्य एवं पाप के अनुसार ही उन्हें फलस्वरूप जाति, आयु एवं भोग रूप फल देता है।

विज्ञानभिक्षु लिखते हैं कि प्रकृति की साम्यावस्था में क्षोभ उत्पन्न करने के कारण ईश्वर सृष्टि का उद्‌बोधक है।[15] एक अन्य स्थल पर तो और भी स्पष्ट शब्दों में कहा है कि प्रकृति के वैषम्य अर्थात् सृष्टि–काल में होने वाला परिणाम रूप जो क्षोभ उत्पन्न होता है, वह ईश्वर की इच्छा से ही होता है।[16] इसके द्वारा यह नहीं जानना चाहिए कि प्रकृति को जिस प्रकार सांख्य–योग दर्शन में स्वतन्त्र कहा गया है उस सिद्धान्त पर आक्षेप आता है, क्योंकि ईश्वर तो निमित्त मात्र ही है जैसा कि अभी वर्णन किया गया है।[17] भोजदेव भी ईश्वर को ही प्रकृति एवं पुरुष के संयोग–वियोग का कारण मानते हैं।

परवर्ती व्याख्याकारों द्वारा ईश्वर को प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न करने के लिये निमित्त कारण के रूप में स्वीकार किये जाने से यद्यपि विभिन्न दार्शनिकों ने उनकी आलोचना करते हुए उसे मूल से हट जाने का आरोप लगाया है, तथापि यह स्वीकार करना युक्तिसंगत नहीं है कि ईश्वर की इस रूप में कल्पना करने से योग–दर्शन के सिद्धान्त की किसी भी रूप में हानि होती है। 'इलाइड' ने भी अनुभव किया है कि समय की पुकार को देखते हुए ही दोनों मुख्य व्याख्याकारों ने योगदर्शन के उस अव्याख्यात पहलू पर प्रकाश डाला है जिसके परिणामस्वरूप ऐसे कठिन समय में जबकि विभिन्न विचारधाराएँ उन मुख्य धाराओं के सामने या तो विलुप्त हो गईं या उनमें लय हो गईं, योग दर्शन अपना विशिष्ट स्थान बनाए अडिग खड़ा रहा और आज तक मान्य है।

ईश्वर का स्वरूप

बद्ध एवं मुक्त पुरुषों से भिन्नता

पतंजलि के अनुसार ईश्वर एक पुरुष–विशेष है, यह अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेशादि क्लेशों तथा शुभ और अशुभ कर्मों, उनका विपाक रूप जाति, आयु तथा भोग एवं वासना से रहित है।[18] यद्यपि स्वरूपतः पुरुष तो है ही इन क्लेशादि से रहित फिर ईश्वर को इनसे रहित होने के कारण पुरुषविशेष कैसे कहा गया है, इस शंका के निवारण हेतु दोनों ही टीकाकारों ने कहा है कि अविद्यादि–बुद्धि के धर्म हैं, पुरुष के नहीं, फिर भी सांसारिक पुरुषों में उनका आरोप किया जाता है। इस आरोप का कारण अविद्या ही है, ईश्वर में इस प्रकार का आरोप भी नहीं होता।[19] वुड के मत में भी अज्ञानतावश ही अन्य पुरुष अपने को बन्धन में पड़ा हुआ मानते हैं।

वर्तमान काल में जो पुरुष मुक्त है उनसे भी यह भिन्न है क्योंकि वे या तो इस अवस्था से पूर्व बन्धन में थे जिसका उच्छेद कर उन्होंने सदासर्वदा के लिए कैवल्य–लाभ कर लिया है या फिर दूसरे प्रकार के मुक्त–पुरुष वे होते हैं जो कुछ निश्चित अवधि के लिए कैवल्य जैसा अनुभव कर पुनः संसर चक्र में आ जाते हैं। जैसे विदेह एवं प्रकृतिलय। ईश्वर इन दोनों ही प्रकार के मुक्त–पुरुषों से भिन्न स्वभाव का है क्योंकि वह न कभी बन्धन में था और न होगा।[20]

ईश्वर सर्वज्ञ है

सामान्य पुरुषों को जो पदार्थ–विषयक ज्ञान होता है वह पूर्ण नहीं होता अर्थात् पदार्थ के अतीत एवं अनागत अवस्थाओं का ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति को नहीं होता, मात्र योगी को ही उस पदार्थ–विशेष की त्रैकालिक अवस्थाओं का ज्ञान होता है जिसके विषय में उसने संयम किया हो। यह योगी जिसने विवेकज्ञान प्राप्त कर लिया है उसे भी ईश्वर की भांति समस्त वस्तुओं का त्रैकालिक ज्ञान हो जाता है परन्तु ईश्वर की सर्वज्ञता को तो निरतिशय बताया गया है अर्थात् उससे अधिक ज्ञानवान और कोई नहीं होता। सर्वज्ञत्व नामक सिद्धि से युक्त एवं ईश्वर की सर्वज्ञता में क्या अन्तर है यह सूत्र एवं भाष्य तथा व्याख्याकारों ने शब्दों में स्पष्ट नहीं किया है। ईश्वर अनादि काल से ही सर्वज्ञ है, जबकि योगी पहले अज्ञानी था।

ईश्वर सर्वाधिक ऐश्वर्य सम्पन्न है[21]

सिद्धियों को प्राप्त करने वाले योगियों को भी विभिन्न प्रकार के ऐश्वर्यों की प्राप्ति हो जाती है, परन्तु विभिन्न योगियों में यह कम या अधिक मात्रा में होता है। वाचस्पति मिश्र का मत है कि जो कुछ भी सातिशय होता है उसकी निरतिशयता भी किसी न किसी वस्तु में अवश्य ही होती है[22], इस अनुमान के आधार पर ऐश्वर्य की भी निरतिशयता मानी जानी चाहिये और वह ईश्वर में ही सम्भव है, अर्थात् मात्र ईश्वर ही निरतिशय ऐश्वर्यसम्पन्न है, विज्ञानभिक्षु लिखते हैं ऐश्वर्य की काष्ठा जहाँ होती है वहीं ईश्वर है।

ईश्वर एक है

सांख्य एवं योग दर्शन में पुरुष बहुतत्व की भांति, अनेक नहीं माने जाते। एक से अधिक समान ऐश्वर्य सम्पन्न व्यक्तियों को ईश्वर कोटि में यदि गिना जाय तो उचित न होगा। इस विषय में वाचस्पति मिश्र एवं विज्ञानभिक्षु दोनों ने ही तर्क उपस्थित किए हैं। एक ही पदार्थ के विषय में विभिन्न परिणाम की इच्छा करने वाले, दो ईश्वरों के होने पर, पदार्थ के किसी एक की इच्छा के अनुरूप परिणत होने से दूसरे की इच्छा पूर्ण न होने के कारण उसमें न्यूनता आ जाएगी ऐसा दोनों टीकाकारों का अभिमत है।[23] वाचस्पति मिश्र ने अन्य तर्क भी एक ईश्वर के सद्भाव हेतु प्रस्तुत किए हैं, वह लिखते हैं यदि दोनों को ही इच्छा की सम्पूर्ति न मानें तो कोई कार्य उत्पन्न ही नहीं होगा अतः यह मानना अनुचित है, इसके अतिरिक्त यदि माना जाय कि उन ईश्वरों के परस्पर भिन्न मत होते ही नहीं, उस अवस्था में अनेक मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं है।

ईश्वर आदि गुरु है

सूत्रकार ने ईश्वर को काल के द्वारा बाधित न होने के कारण पूर्वोत्पन्न गुरुओं का भी गुरु माना है।[24] पूर्वोत्पन्न गुरुओं से तात्पर्य दोनों टीकाकार सर्ग के प्रारम्भ में उत्पन्न ब्रह्मा, विष्णु, महेशादि गुरुओं को मानते हैं[25], क्योंकि यह उनकी उत्पत्ति से भी पूर्व विद्यमान रहता है और उन्हें वेदादि का ज्ञान प्रदान करता है।

ईश्वर स्वयं अवतार नहीं लेता

अवतार जिसका वर्णन अनेक स्मृतियों एवं पुरणादि में पाया जाता है उसके बारे में वाचस्पति मिश्र मौन हैं। विज्ञानभिक्षु का मत है कि अवतार विष्णु आदि के होते हैं। ईश्वर के नहीं क्योंकि विष्णु आदि देवताओं का परमात्मा में अहंभाव से शक्ति एवं शक्तिमद् में अभेद के कारण पाया जाता है। यही कारण है कि हरि एवं हर आदि को आधुनिक वेदान्तियों ने साक्षात् ईश्वर का ही अवतार मान लिया है, परन्तु उनका यह मत पूर्णतः अप्रामाणिक एवं भ्रान्त है।

ईश्वर की उपाधि

जैसा कि बताया जा चुका है कि ज्ञान एवं इच्छा आदि बुद्धि के धर्म हैं, पुरुष के नहीं, उनका आरोप पुरुष में होता है। वह बुद्धि अथवा चित्त त्रिगुणात्मक है और उन दोनों अर्थात् पुरुष एवं चित्त के सम्बन्ध का कारण अविद्या माना गया है। ईश्वर में भी ज्ञान एवं इच्छादि बताए गए हैं, जो कि उसके उपाधि–भूत चित्त के ही धर्म हैं। परन्तु इन दोनों के चित्त में यह अन्तर है कि पुरुष का चित्त जिस प्रकार त्रिगुणात्मक है ईश्वर का नहीं, उसका चित्त विशुद्ध सत्त्व प्रधान है। एक अन्य वैशिष्ट्य यह है कि पुरुष एवं चित्त का सम्बन्ध अविद्याकृत है जबकि ईश्वर का चित्त उसके संकल्पमात्र से उसे प्राप्त हो जाता है। भाव यह है कि महाप्रलय की अवस्था में जब ईश्वर के चित्त का भी लय हो जाता है तो उस चित्त का त्याग करते समय ईश्वर यह संकल्प करता है कि पुनः सृष्टि के प्रारम्भ में जीवों का उद्धार करूँगा, उस संकल्प के संस्कारवश ही, महाप्रलय के पश्चात् ईश्वर उस चित्त को धारण कर लेता है जिस प्रकार कि कोई व्यक्ति निश्चित समय पर उठने का संकल्प करके सो जाता है तो उस संकल्प के कारण वह स्वयमेव उस समय पर जाग जाता है, उसे किसी के द्वारा उठाये जाने की आवश्यकता नहीं होती। यह मत वाचस्पति मिश्र ने अभिव्यक्त किया है। विज्ञानभिक्षु का मत इससे भिन्न है। वह महाप्रलय में भी ईश्वर के उपाधिभूत चित्त का लय नहीं मानते। अपने मत के समर्थन में वह श्रुति वाक्य उद्धृत करते हैं जिसमें ईश्वर के रात एवं दिन का निषेध किया गया है।[26] उनके अनुसार यदि पुनः सृष्टि–काल में चित्त का ईश्वर के साथ संयोग माना जाएगा तो ईश्वर को भी अविद्याग्रस्त मानना पड़ेगा क्योंकि बुद्धि एवं पुरुष के संयोग का कारण अविद्या ही बताया गया है।[27] यदि संस्कार के द्वारा पुनः चित्त का संयोग होता है, अविद्यावश नहीं, यह माना जाए जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने माना है, तो भी उचित न होगा क्योंकि याज्ञवल्क्य ने ईश्वर की उपाधि में संस्कारादि का सद्भाव मानने पर यदि उसका लय माना जाएगा तो उस काल में ईश्वर के न रहने से (क्योंकि ईश्वर अपनी उपाधि के कारण ही ईश्वर माना जाता है) उसको जो कालातीत बताया गया है उस सिद्धान्त का खण्डन हो जाएगा।[28]

अतएव प्रलय में जो उपाधि का लय एवं संस्कारवश उसका पुनः धारण करना है यह दैनन्दिन प्रलय में योगनिद्रा में सोने वाले ब्रह्मादि के लिए ही उपयुक्त माना जा सकता है, न कि परमेश्वर के विषय में।[29]

विज्ञानभिक्षु के द्वारा प्रस्तुत इन तर्कों के परिप्रेक्ष्य में यदि प्रलयावस्था में भी ईश्वर की उपाधि का लय नहीं माना जाए, तो उनका स्वयं ही यह कहा जाना कि ईश्वर का पुरुष में और उसकी उपाधि का प्रकृति में अन्तर्भाव हो जाता है किस प्रकार

संगत होगा क्योंकि ऐसी कोई अवस्था ही नहीं आयेगी जब ईश्वर की उपाधि का प्रकृति में लय हो। साथ ही सांख्य एवं योग की तत्त्वमीमांसा के अनुसार प्रकृति एवं पुरुष दो ही मूलतत्त्व हैं, विज्ञानभिक्षु का मत स्वीकार करने पर प्रलयावस्था में भी उपाधि विशिष्ट ईश्वर की स्थिति रहेगी। और वह प्रकृति एवं पुरुष से विशिष्ट तृतीय तत्त्व के रूप में होगा, अतः सांख्य एवं योग की तत्त्वमीमांसा के अनुसार प्रकृति एवं पुरुष से विशिष्ट तृतीय तत्त्व के रूप में होगा,अतः सांख्य एवं योग की तत्त्वमीमांसा ही बाधित हो जायेगी।

ऐसा प्रतीत होता है कि विज्ञानभिक्षु ने ईश्वर की उपाधि के सद्भाव की जो कल्पना की है वह मात्र प्रलयावस्था के विषय में ही यदि उचित मानी जाय तथा महाप्रलय में वाचस्पति मिश्र के तर्क के अनुरूप उपाधि का लय मान लिया जाए उसी स्थिति में सांख्य योग के सिद्धान्त अपनी तात्त्विकता के वर्णन में सही हो सकते हैं, अन्यथा नहीं।

ईश्वर के शाश्वतिक उत्कर्ष में शास्त्र प्रमाण हैं

ईश्वर सत्त्वोपाधि से युक्त तथा निरतिशय ऐश्वर्य सम्पन्न है, तथा वही सर्वाधिक ज्ञानवान है इत्यादि जो ईश्वर का अन्यों की अपेक्षा उत्कर्ष दिखाया गया है और यह उत्कर्ष भी शाश्वतिक है, ऐसा कहा है, इस विषय में प्रत्यक्ष अथवा अनुमान को प्रमाण नहीं माना जा सकता, अतः इसके प्रामाण्य की शंका को दृष्टि में रखते हुए भाष्यकार व्यास लिखते हैं कि इस विषय में शास्त्र ही प्रमाण है। शास्त्र के विषय में ईश्वर के सत्त्वोत्कर्ष को ही प्रमाण माना गया है।[30] ईश्वर एवं शास्त्र का जो पारस्परिक प्रामाण्य दिखाया गया है उसमें अनवस्था–दोष की कल्पना की जा सकती है। दासगुप्ता का मत है कि यहाँ पर अनवस्था–दोष को मानने का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता क्योंकि इन दोनों का सम्बन्ध अनादिकालीन है।[31]

वाचस्पति मिश्र शास्त्र की प्रामाणिकता को सिद्ध करते हुए उसके ईश्वर प्रणीत होने के विषय में तर्क देते हैं। उनके मत में आयुर्वेदादि शास्त्रों में रोगोपशमन हेतु जिन–जिन औषधियों का सेवन करने के लिए कहा गया है, उन–उन औषधियों का सेवन करने से उन–उन रोगों का निवारण देखा जाता है। इसी प्रकार उचित रीति से मन्त्रोच्चारण कर तदभीष्ट फल की प्राप्ति भी देखी जाती है। अतः वे शास्त्र यथार्थ वस्तु का उपदेश करते हैं यह मानना चाहिए, अतः शास्त्र प्रामाणिक होने से उसमें वर्णित ईश्वर का सत्वोत्कर्ष भी प्रामाणिक है यह जाना जा सकता है। इसके अतिरिक्त ये शास्त्र ईश्वर–प्रणीत हैं इस विषय में तर्क देते हुए यह लिखते हैं क्योंकि हजारों बार जन्म लेकर भी कोई मनुष्य इस प्रकार के शास्त्रों की रचना नहीं कर सकता। अतः इन्हें ईश्वर–प्रणीत ही जानना चाहिए।

विज्ञानभिक्षु शास्त्र एवं सत्त्वोत्कर्ष में परस्पर–नैमित्तिक सम्बन्ध मानते हैं।[32]

ईश्वर करुणावश सृष्टि में प्रवृत्त होता है

सूत्रकार एवं भाष्यकार के मत में ईश्वर सृष्टि के प्रारम्भ में ज्ञान का उपदेश देता है। परवर्ती टीकाकार तो प्रकृति की साम्यावस्था में क्षोभ उत्पन्न कर सृष्टिकर्ताके रूप में भी ईश्वर की कल्पना करते हैं। उसके इन कार्यों में प्रवृत्ति का क्या हेतु है इस विषय में सामान्य–हेतु न होने के कारण विशिष्ट हेतु की कल्पना भाष्यकार ने की है, वह लिखते हैं कि नित्यतृप्त ईश्वर अपने लाभ के लिए प्रवृत्त होता हो, यह मानना तो व्यर्थ ही है अतः विभिन्न श्रुतियों के आधार पर यही माना जाना चाहिए कि ईश्वर प्राणियों पर अनुग्रह करने से प्रयोजन से ही प्रवृत्त होता है अर्थात् वह सोचता है कि कल्पप्रलय एवं महाप्रलयादि में पड़े हुए इन बद्ध अज्ञानी पुरुषों को मोक्ष का उपदेश देकर उनका उद्धार करूंगा।

वाचस्पति मिश्र ने विपक्ष की ओर से ईश्वर की प्रवृत्ति के विषय में उठाई जा सकने वाली विभिन्न कल्पनाओं को सुन्दर ढंग से अपनी व्यख्या में देते हुए, स्वमत को प्रस्तुत किया है।

प्रथम शंका यह है कि जब ईश्वर को नित्य तृप्त एवं वैराग्य सम्पन्न बताया गया है, तो अपनी तृष्णा की शान्ति हेतु उसकी प्रवृत्ति हो नहीं सकती तो फिर किस कारण से वह प्रवृत्त होता है?[33]

यदि यह कहा जाये कि वह करुणावश सृष्टिकार्य में प्रवृत्त होता है तो भी उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि यदि वह करुणाशील होता तो विभिन्न प्रकार के दुःख प्राणियों को क्यों देता अथवा जैसा कि हम देखते हैं प्रत्येक प्राणी किसी न किसी प्रकार के दुःख से पीड़ित है, अतः इस दुःख बहुल संसार की सृष्टि क्यों करता?[34] तात्पर्य यह है कि यदि यह करुणावश इस कार्य में प्रवृत्त हुआ होता तो सभी प्राणियों को विभिन्न सुख साधनों से सम्पन्न करता, न कि विभिन्न दुःखों से।

अन्य हेतु के न होने पर यदि यह कहा जाये कि बिना किसी प्रयोजन के ही वह प्रवृत्त हो कर ही कार्य करने लगता है तो भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि कहा गया है कि 'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोपि न प्रवर्तते' तो फिर यह सर्वज्ञ ईश्वर ऐसा किस प्रकार कर सकता है।[35]

पूर्वपक्षी के प्रथम एवं तृतीय तर्क पूर्णतः उचित है, द्वितीय तर्क आपाततः ठीक प्रतीत होता है परन्तु पूर्ण रूप से ईश्वर की प्रवृत्ति की प्रक्रिया को ध्यान में रखते हुए यदि उस पर विचार करें तो वह निर्मूल हो जाता है। यह तो सत्य है कि करुणावश सृष्टि करने पर दुःखों से युक्त प्राणियों की सृष्टि ईश्वर को नहीं करनी चाहिए थी, परन्तु इस विषय में यह बात ध्यान रखने योग्य है कि प्राणियों के जात्यायु एवं भोग ईश्वर स्वेच्छा से ही प्रदान नहीं करता, परन्तु पूर्वजन्मों में उनके द्वारा किए गए कर्मों के फलस्वरूप ही उन्हें सुख दुःखादि प्रदान करता है, स्वेच्छा से नहीं, अतः दृष्टि से उसे अकारुणिक भी नहीं माना जा सकता।[36]

विज्ञानभिक्षु एक अन्य शंका को उठाते हुए ईश्वर की राग–द्वेष से शून्यता को पुष्ट करते हैं। शंका यह है कि ईश्वर जैसा कि बताया गया, भक्तों पर ही अपनी कृपादृष्टि रखते हुए उन्हें विभिन्न ऐश्वर्यादि से सम्पन्न करता है अन्यों को नहीं तो वह इस वैषम्य के कारण नित्य मुक्त कैसे कहा जा सकता है?

इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए यह लिखते हैं कि जिस प्रकार अग्नि स्वभाव से उष्ण है, ठीक उसी प्रकार भक्तों पर अनुग्रह करना ईश्वर का स्वभाव है, अतः उसे राग–द्वेष युक्त नहीं का जा सकता।

इस वर्णन के द्वारा हम यह देखते हैं कि ईश्वर के स्वरूप की व्याख्या करते हुए दोनों व्याख्याकारों ने उसे अधिकाधिक स्पष्ट करने की चेष्टा की है यत्किंचित् भेद होने पर भी दोनों ही व्याख्याकारों ने ईश्वर को योगदर्शन में वह महत्वपूर्ण

स्थान प्रदान कराया है जिसकी कमी सूत्रकार के ईश्वर एवं भाष्यकार के द्वारा वर्णित ईश्वर के वर्णन से अब तक अनुभव की जा रही थी।

उदयवीर शास्त्री तो सांख्य दर्शन में भी ईश्वर के उक्तरूपेण अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। उनके मत में सांख्य में जगत के उपादानभूत ईश्वर को स्वीकार न कर अधिष्ठातृभूत ईश्वर को स्वीकार किया है। अपने मत की पुष्टि में 'ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा' इस सांख्य–सूत्र को भी उद्धृत करते हैं।[37]

सन्दर्भ

1. ईश्वरप्रणिधानाद्वा। –यो.सू. 1/23
2. तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः। –यो.सू. 2/1
3. शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। –यो.सू. 2/32
4. अतः सर्वेषु संप्रज्ञातेषु मध्ये पारमेश्वरयोग एव श्रेष्ठः। –यो.सा.सं., पृ. 13
5. A Personal God serves the practical purposes of *Patanjali*, who does not concern himself much with the speculative interests of theism. Radhakrishnan, S.I.P, 2 369.
6. In the later Yoga, the universal needs of the human heart prove stronger, and God begins to occupy a more central place. The reality of God is seen in the purified life of man. The witness of God is the religious experience of man. Radhakrishnan S.I.P., II, 371.
7. We notice that God is not described in Raja-Yoga as the creator. Raja-Yoga states, as the contrary, that as God is a perfect being, he cannot create, if he does create, he is a slave of his desires. Again, should God have desires if he is perfect? Because every desire means imperfection, wanting something and suffering. So, if God has a desire to create, he will be a slave of that desire and therefore, he cannot be free and perfect. Abhedanand, Yoga Psychology, 354.
8. तदभिध्यानमात्रादपि योगिन आसनन्तरः समाधिलाभः समाधिफलं च भवतीति। –व्या.भा., पृ. 65
9. ईश्वरप्रणिधानाद्वा। –यो.सू. 1/23
10. तस्य वाचकः प्रणवः। –यो.सू. 1/27
11. (क) तज्जपस्तदर्थभावनम्। –यो.सू. 1/28
    (ख) प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावनम्। व्या.भा., पृ. 84
12. ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तराभावश्च। –यो.सू. 1/29
13. ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसन्यासो वा। –व्या.भा., पृ. 136
14. सत्यं धर्मादयो निमित्तं न तु प्रयोजकाः, तेषामपि प्रकृतिकार्यत्वात्। न च कार्यं कारणं प्रयोजयति,–स्वतन्त्रस्य च प्रयोजकत्वात्। न च पुरुषार्थोपि प्रवर्तकः, किं तु तदुद्देशेनेश्वरः। ...ईश्वरस्यापि धर्माधिष्ठानार्थं प्रतिबन्धापनय एव व्यापारो वेदितव्यः। त.वै., पृ. 399
15. ईश्वरस्तु साम्यपरिणामादिरूपाखिलावरणाभङ्गेनोद्बोधकः। –यो.वा., पृ. 400
16. प्रकृतेर्वैषम्यहेतुः क्षोभोऽपीश्वरेच्छात एव। –यो., पृ. 73
17. न च प्रकृतिस्वातन्त्र्यक्षतिः, निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनाम् इत्यागामि सूत्रात् निमित्तकारणस्येश्वरादेस्तत्स्वातन्त्र्याविघातकत्वात्। –यो.वा., पृ. 81
18. क्लेशर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। यो.सू. 1/24
19. (क) यो ह्यनेन बुद्धिस्थेनापि पुरुषमात्रसाधारणेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः। –त.वै., पृ. 67
    (ख) ते चाविद्याऽऽदयो यद्यपि मनस्येव सन्ति न कुत्रापि पुरुषे सांसारिके व्यपदिश्यन्त इति। –यो.वा., पृ. 71
20. ईश्वरस्य च तत्संबन्धो न भूतो न भावी। –व्या.भा., पृ. 66
21. तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। –यो.सू. 1/25
22. यद्यत्सातिशयं तत्तत्सर्वनिरतिशयम्। त.वै., पृ. 77
23. प्राकाम्यमविहतेच्छता। तद्विघातादूनत्वम्। –त.वै, पृ. 69
24. पूर्वेषामपि गुरु कालेनानवच्छेदात्। –यो.सू. 1/26
25. संप्रति भगवतो ब्रह्मादिभ्यो विशेषमाह– स एष इति। –त.वै., पृ. 81
26. नैवाहस्तस्य न निशा नित्यस्य परमात्मनः। –यो.वा., पृ. 72 पर उद्धृत
27. तस्य हेतुरविद्या इत्यागामिसूत्रोणाविद्याया बुद्धिपुरुषसंयोगहेतुत्ववचनेन ईश्वरस्याप्यविद्वत्वापत्तेः। –यो.वा., पृ. 73
28. तथाऽऽगामिसूत्रप्रतिषिद्धं कालावच्छिन्नत्वं चेशे स्याद् उपाधिवृत्त्याभावेनैव चेतनस्य कालानवच्छिन्नत्वाद् इत्यादीन्यत्र दूषणानि सन्ति। –यो.वा., पृ. 73
29. तस्मात् प्रलये निषिद्धोऽप्युपाधिः, पूर्वं सर्गीयसंकल्पवासनाभ्यां स्वयं व्युत्थितो भवतीति यच्छास्त्रं तद्दैनंदिनप्रलये योगनिद्रया शयानस्य स्वयंभुव उपाधिपरमेव, न परमेश्वरोपाधिपरमिति दिक्। –यो.वा., पृ. 73
30. शास्त्र पुनः किंनिमित्तम्? प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तम्। –व्या.भा., पृ. 66
31. The objection that this is an argument in a circle has no place here, since the connection of the scriptures with Isvara is beginningless. –Das Gupta, S.N.Y.P.R., p. 159
32. शास्त्रोत्कर्षयोरनादिर्निमित्तनैमित्तिकभावः संबन्धः, शास्त्रनैमित्तिकं सत्त्वोत्कर्षश्च निमित्तं कारणात्वादित्यर्थः। –यो.वा., पृ. 70
33. नित्यतृप्तस्य भगवतो वैराग्यातिशयसंपन्नस्य स्वार्थे तृष्णासंभवात्। –त.वै., पृ. 78
34. कारुणिकस्य च सुखैकतानसर्जनपरस्य दुःखबहुलजीवलोकजननानुपपत्तेः। –त.वै., पृ. 78
35. अप्रयोजनस्य च प्रेक्षावतः प्रवृत्त्यनुपपत्तेः क्रियाशक्तिशालिनोपि न जगत्क्रियेत्। –त.वै., पृ. 78
36. तेनाचरितार्थत्वाच्चितस्य जन्तूनीश्वरः पुण्यापुण्यसहायः सुखदुःखे भावयन्नपि नाकारुणिकः। –त.वै., पृ. 78
37. शास्त्री, उदयवीर, सांख्यसिद्धान्त, पृ. 55